

न्यायकुमुदचन्द्र-२

कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलंक के समय का। पं० महेन्द्रकुमारजी ने 'अकलङ्कग्रंथत्रय' की प्रस्तावना में धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों आदि के ग्रंथों की तुलना के आधार पर अकलंक का समय निश्चित करते समय जो विक्रमादित्य शक संवत् का अर्थ विक्रमीय संवत् न लेकर शक संवत् लेने की ओर संकेत किया है—वह मुझको भी विशेष साधारण मालूम पड़ता है। इस विषय में पंडितजी ने जो धवलटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजी के कथन का उल्लेख प्रस्तावना (पृष्ठ ५) में किया है वह उनकी अकलंकग्रंथत्रय में स्थापित विचारसरणी का ही पोषक है। इस बारे में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जयचन्द्रजी विद्यालंकार का^१ विचार भी पं० महेन्द्रकुमारजी की धारणा का पोषक है। मैं तो पहले से ही मानता आया हूँ कि अकलंक का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ही हो सकता है जैसा कि याकिनीसूनु हरिभद्र का है। मेरी राय में अकलंक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्य टीकाकार सिद्धसेन गणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाण में समसामयिक अवश्य हैं। आगे जो समन्तभद्र के समय के बारे में कुछ कहना है उससे भी इसी समय की पुष्टि होती है।

१. इसका प्रारंभ का भाग 'दार्शनिक मीमांसा' खण्ड में दिया है—पृष्ठ ६७।

२. वे भारतीय इतिहास की रूपरेखा (पृ० ८२४-२६) में लिखते हैं—
“महमूद गजनवी के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान यात्री अलबरूनी ने अपने भारत विषयक ग्रन्थ में शक राजा और दूसरे विक्रमादित्य के युद्ध की बात इस प्रकार लिखी है—‘शक संवत् अथवा शककाल का आरम्भ विक्रमादित्य के संवत् से १३५ वर्ष पीछे पड़ा है। प्रस्तुत शक ने उन (हिन्दुओं) के देश पर सिन्ध नदी और समुद्र के बीच, आर्यावर्ष के उस राज्य को अपना निवासस्थान बनाने के बाद बहुत अत्याचार किये। कुछ लोगों का कहना है, वह अलमन्सूरा नगरी का शत्रु था, दूसरे कहते हैं, वह हिन्दू था ही नहीं और भारत में पश्चिम से आया था। हिन्दुओं को उससे बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्त में उन्हें पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्य ने उन पर चढ़ाई की, उसे भगा दिया और मुलतान तथा लोनी के कोटले के बीच करूर प्रदेश में उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध

आचार्य प्रभाचन्द्र के समय के विषय में पुरानी नववीं सदी की मान्यता का तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजी ने कर ही दिया है। अब उसके संबंध में इस समय दो मत हैं, जिनका आधार 'भोजदेवराज्ये' और 'जयसिंहदेवराज्ये' वाली प्रशस्तियों का प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्र कर्तृकत्व की कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तियाँ प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समय की उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्र कर्तृक मानी जाए तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षों का सार है। पं० महेन्द्रकुमारजी ने प्रस्तावना में उक्त प्रशस्तियों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो विचारक्रम उपस्थित किया है, वह सुझको ठीक मालूम होता है। मेरी राय में भी उक्त प्रशस्तियों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने की कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशा में प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की ११ वीं सदी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं सदी के प्रथमपाद तक स्वीकार कर लेना सभी दृष्टियों से संयुक्तिक है।

मैंने 'अकलङ्कग्रंथत्रय' के प्राक्कथन में ये शब्द लिखे हैं—“अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का ही संबंध रहा

हो गई, क्योंकि लोग उस प्रजापीडक की मौत की खबर से बहुत खुश हुए और उस तिथि में एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषरूप से बर्तने लगे।” किन्तु विक्रमादित्य संवत् कहे जानेवाले संवत् के आरम्भ और शक के मारे जाने में बड़ा अन्तर है, इससे मैं समझता हूँ कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नाम से पड़ा है, वही शक को मारनेवाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनों का नाम एक है।—(पृ० ८२४-२५)। ‘इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहन वाली अनुश्रुति के कारण। अलवरुनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शक को मारने की यादगार में चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (६६६ ई०) और ब्रह्मदत्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। यह संवत् अब भी पंचांगों में शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है।.....—(पृ० ८३६)।” इन दो अवतरणों से इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है कि विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शक को मारकर अपनी शक विजय के उपलक्ष्य में एक संवत् चलाया था। जो सातवीं शताब्दी (ब्रह्मगुप्त) से ही शालिवाहनाब्द माना जाता है। धवला टीका आदि में जिस ‘विक्रमार्कशक’ संवत् का उल्लेख आता है वह यही ‘शालिवाहन शक’ होना चाहिए। उसका ‘विक्रमार्कशक’ नाम शक विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य द्वारा चलाये गए शक संवत् का स्पष्ट सूचन करता है।

है, क्योंकि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की व्याख्या है ।” इत्यादि । आगे के कथन से जब यहाँ निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद कभी हुए हैं । और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की व्याख्या है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलंक में साक्षात् गुह शिष्य का भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीच में समय का कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता । इस दृष्टि से समन्तभद्र का अस्तित्व विक्रम की सातवीं शताब्दी का अमुक भाग हो सकता है ।

मैंने अकलंकग्रन्थत्रय के ही प्राक्कथन में विद्यानंद की आत्मपरीक्षा^१ एवं अष्टसहस्री के स्पष्ट उल्लेखों के आधार पर यह निःशंक रूप से बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के आसस्तोत्र के मीमांसाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं । मेरा यह विचार तो बहुत दिनों के पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आने पर उसे संक्षेप में अकलंकग्रन्थत्रय के प्राक्कथन में निविष्ट किया था । पं० महेन्द्रकुमारजी ने मेरे संक्षिप्त लेख का विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भाग की प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूप से स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के उत्तरवर्ती हैं । अलवृत्ता उन्होंने मेरी सप्तभंगी वाली दलील को निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है । पर इस विषय में पंडितजी तथा

१. ‘श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः’ वाला जो श्लोक आत्मपरीक्षा में है उसमें ‘इद्धरत्नोद्भवस्य’ ऐसा सामासिक पद है । श्लोक का अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पद को ‘अम्बुनिधि’ का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए । चाहे उसमें समास ‘इद्धरत्नों का उद्भव-प्रभवस्थान’ ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे ‘इद्धरत्नों का उद्भव-उत्पत्ति हुआ है जिसमें से’ ऐसा बहुव्रीहि किया जाए । उभय दशा में वह अम्बुनिधि का समानाधिकरण विशेषण ही है । ऐसा करने से ‘प्रोत्थानारम्भकाले’ यह पद ठीक अम्बुनिधि के साथ अप्रनुरक्त रूप से संबद्ध हो जाता है । और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्र की प्रोत्थान-भूमिका बाँधते समय जो स्तोत्र किया गया है । इस वाक्यार्थ में ध्यान देने की मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थ का प्रोत्थान बाँधने वाला अर्थात् उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतलानेवाला और स्तोत्र का रचयिता ये दोनों एक हैं । जिसने तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बतलाया उसी ने उस निमित्त को बतलाने के पहिले ‘भोक्षमार्गस्य नेतारम्’ यह स्तोत्र भी रचा । इस विचार के प्रकाश में सर्वार्थसिद्धि की भूमिका जो पड़ेगी उसे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि ‘वह स्तोत्र खुद पूज्यपाद का है या नहीं ।’

अन्य सज्जनों से मेरा इतना ही कहना है कि मेरी यह दलील विद्यानन्द के स्पष्ट उल्लेख के आधार पर किये गए निर्णय की पोषक है और उसे मैंने वहाँ स्वतंत्र प्रमाण रूप से पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मन में तो वह दलील एक स्वतंत्र प्रमाण रूप से भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरह से वहाँ नहीं किया। जो जैन-परम्परा में संस्कृत भाषा के प्रवेश, तर्कशास्त्र के अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्यों की छोटी-सी भी महत्वपूर्ण कृति का उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानस को जो जानता है उसे तो कभी संदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिङ्नाग के पद्य को तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का किसी अंश में स्पर्श भी न करें। क्या वजह है कि उमास्वाति के भाष्य की तरह सर्वार्थसिद्धि में भी सप्तभंगी का विशद निरूपण न हो? जो कि समन्तभद्र की जैन परम्परा को उस समय की नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्र को धर्मकीर्ति के समकालीन मानने की ओर मुक्तता है—

मुझे की बात यह है कि अभी तक ऐसा कोई जैन आचार्य या उसका ग्रंथ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धों ने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्ष का तो जैन संस्कृत एवं तर्क वाङ्मय का ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा की कृतियों का प्रतिविम्ब ही नहीं, कभी-कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बौध्दों के जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है। पर अगर सामान्य व्याप्ति की यह धारणा अन्त नहीं है तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्र के बीच जो कुछ महत्व का साम्य है उस पर ऐतिहासिकों को विचार करना ही पड़ेगा। न्यायावतार में धर्मकीर्ति के द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पद के बल पर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याकोबी ने सिद्धसेन दिवाकर के समय के बारे में सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्र की कृति में पाये जानेवाले धर्मकीर्ति के साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चयगत मंगल श्लोक के ऊपर ही उसके व्याख्यान रूप से धर्मकीर्ति ने प्रमाणवातिक का पहला परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्ति ने प्रमाण रूप से मुग्त को ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्र ने भी पूज्यपाद के 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगल पद्य को लेकर उसके ऊपर आसमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकर को ही आस-प्रमाण स्थापित किया है। असल बात यह है कि कुमारिल ने

श्लोकवार्तिक में चोदना-वेद को ही अंतिम प्रमाण स्थापित किया, और ‘प्रमाणभू-
ताय जगद्धितैषिणे’ इस मंगल पद्य के द्वारा दिङ्नाग प्रतिपादित बुद्धि प्रामाण्य को
खण्डित किया। इसके जवाब में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद
में बुद्ध का प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेद रूप से अपने ढंग से सविस्तर स्थापित
किया। जान पड़ता है इसी सरणी का अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्र ने भी
किया। पूज्यपाद का ‘मोक्षमार्गत्य नेतारम्’ वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें मिला फिर
तो उनकी प्रतिभा और जग उठी। प्रमाणवार्तिक के सुगत प्रामाण्य के स्थान में
समन्तभद्र ने अपनी नई सप्तभंगी सरणी के द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेद रूप से ही
अर्हत्-जिन को ही आस-प्रमाण स्थापित किया। यह तो विचारसरणी का साम्य
हुआ। पर शब्द का सादृश्य भी बड़े मार्के का है। धर्मकीर्ति ने सुगत को
‘युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्’ (प्रमाण वार्तिक १।१३५) ‘वैफल्याद् वक्ति
नानृतम्’ (प्र० वा० १।१४७) कह अविरोधभाषी कहा है। समन्तभद्र ने भी
‘युक्तिशास्त्राविरोधवाक्’ (आसमी० का० ६) कहकर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ
स्थापित किया है।

धर्मकीर्ति ने चतुरार्यसत्य के उपदेशक रूप से ही बुद्ध को सुगत-यथार्थरूप
साधित किया है, स्वामी समन्तभद्र ने चतुरार्यसत्य के स्थान में स्वाद्धाद न्याय या
अनेकान्त के उपदेशक रूप से ही जैन तीर्थंकर को यथार्थ रूप सिद्ध किया है।
समन्तभद्र ने स्वाद्धाद न्याय की यथार्थता स्थापित करने की दृष्टि से उसके विषय
रूप से अनेक दार्शनिक मुद्दों को लेकर चर्चा की है, सिद्धसेन ने भी सन्मति के
तीसरे काण्ड में अनेकान्त के विषय रूप से अनेक दार्शनिक मुद्दों को लेकर
चर्चा की है। सिद्धसेन और समन्तभद्र की चर्चा में मुख्य अन्तर यह है कि
सिद्धसेन प्रत्येक मुद्दे की चर्चा में जब केवल अनेकान्त दृष्टि की स्थापना करते हैं
तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्तिक सप्तभंगी प्रणाली के द्वारा
अनेकान्त दृष्टि की स्थापना करते हैं। इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और
सिद्धसेन के बीच का साम्य-वैषम्य एक खास अभ्यास की वस्तु है।

स्वामी समन्तभद्र को धर्मकीर्ति-समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन
होने की जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ
पेश करता हूँ। समन्तभद्र के ‘द्रव्यपर्याययोरैक्यम्’ तथा ‘संज्ञासंख्याविशेषाच्च’
(आ० मी० ७१, ७२) इन दो पद्यों के प्रत्येक शब्द का खंडन धर्मकीर्ति
के टीकाकार अर्चट ने किया है, जिसे पं० महेन्द्रकुमारजी ने नवीं शताब्दी का
लिखा है। अर्चट ने हेतुचिन्दु टीका में प्रथम समन्तभद्रोक्त कारिका के अंशों को
लेकर गद्य में खण्डन किया है और फिर ‘आह च’ कहकर खण्डनपरक ४५

कारिकाएँ दी हैं। पं० महेन्द्रकुमारजी ने अपनी सुविस्तृत प्रस्तावना में (पृ० २७) यह सम्भावना की है कि अर्चदोद्धृत हेतुबिन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्ति कृत होंगी। पण्डितजी का अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्ति ने ही अपने किसी ग्रन्थ में समन्तभद्र की कारिकाओं का खण्डन पद्य में किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्ति का टीकाकार अर्चट कर रहा है। पर इस विषय में निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक और ग्रंथ प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुबिन्दु टीका की अनुटीका है। इस अनुटीका का प्रणेता है दुर्वेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दी के आसपास का ब्राह्मण विद्वान् है। दुर्वेक मिश्र बौद्ध शास्त्रों का खासकर धर्मकीर्ति के ग्रंथों का, तथा उसके टीकाकारों का गहरा अभ्यासी था। उसने अनेक बौद्ध ग्रंथों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्या संपन्न बौद्ध विहार में अव्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रों के बारे में बहुत मार्मिकता से और प्रमाण रूप से लिखनेवाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपाल के ग्रंथ संग्रह में से काँपी होकर भिन्नु राहुलजी के द्वारा मुझे मिली है। उसमें दुर्वेक मिश्र ने स्पष्ट रूप से उक्त ४५ कारिकाओं के बारे में लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चट की हैं। अब विचारना यह है कि समन्तभद्र की उक्त दो कारिकाओं का शब्दशः खण्डन धर्मकीर्ति के टीकाकार अर्चट ने किया है न कि धर्मकीर्ति ने। अगर धर्मकीर्ति के सामने समन्तभद्र की कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होने की विशेष संभावना थी। पर ऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्र ने प्रमाणवार्तिक में स्थापित सुगतप्रमाण्य के विरुद्ध आतमीमांसा में जैन तीर्थंकर का प्रमाण्य स्थापित किया और बौद्धमत का जोरों से निरास किया, तब इसका जवाब धर्मकीर्ति के शिष्यों ने देना शुरू किया। कर्णगोमी ने भी, जो धर्मकीर्ति का टीकाकार है, समन्तभद्र की कारिका लेकर जैन मत का खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चट ने भी समन्तभद्र की उक्त दो कारिकाओं का सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अवस्था में मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कम से कम समन्तभद्र धर्मकीर्ति के समकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालत में विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियों की ऐतिहासिकता में किसी भी प्रकार के सन्देह का अवकाश ही नहीं है।

पण्डितजी ने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्य के उमास्वाति प्रणीत होने के बारे में भी अन्यदीय सन्देह का उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सन्देह का कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्य की गवेषणा में सांप्रदायिक संस्कार के वश होकर अगर सन्देह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी

वस्तु का कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अन्त में मैं पंडितजी की प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृति का सच्चे हृदय से अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाज के विद्वानों और श्रीमानों से भी अभिनन्दन करने का अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजी की सभी कृतियों का उदारभाव से अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान् पंडितजी की साहित्यप्रवण शक्तियों का अपने साहित्योत्कर्ष तथा भण्डारोद्धार आदि कार्यों में विनियोग कराकर अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजी से भी एक अपना नम्र विचार कहे देता हूँ। यह वह है कि आगे अब वे दार्शनिक प्रमेयों को, खासकर जैन प्रमेयों को केन्द्र में रखकर उन पर तात्त्विक दृष्टि से ऐसा विवेचन करें जो प्रत्येक या मुख्य-मुख्य प्रमेय के स्वरूप का निरूपण करने के साथ ही साथ उसके संबन्ध में सब दृष्टियों से पकाश डाल सके।

ई० १९४१]

[न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ का प्राक्कथन]